

बुंदेलखंड के सन्दर्भ में

बदहाली में पलायन

सचिन कुमार जैन

मध्यप्रदेश के छतरपुर के अकोना गांव के गुरवा अहिरवार आज अपनी कच्ची झोंपड़ी में अपनी बुजुर्ग पत्नी और तीन नातियों के साथ रह रहे हैं। उनके दो बेटे और बहू रोजगार की तलाश में जुलाई में ही दिल्ली जा चुके हैं। बुंदेलखण्ड के इस इलाके के किसी भी बस अड्डे और रेलवे स्टेशन पर आपको 5 से लेकर 25 लोगों का समूह सिर पर सफेद बोरी लादे, बिस्तरों का बंडल बांधे, महिलायें अपनी गोद में छोटे-छोटे बच्चों को लिये यात्रा के साधनों का इंतजार करते हुये नजर आ जायेंगे। इनके नाम, जाति और गांव अलग-अलग हो सकते हैं पर इनकी कुण्डली में एक ग्रह बैठ गया है जिसे हम कहते हैं बदहाली में पलायन, स्वैच्छा या अपनी इच्छा से नहीं बल्कि गांव में जीविका और रोटी के विकल्प खत्म हो जाने के बाद जीवन बचाने के लिये चुना गया विकल्प है पलायन।

यहां से जाने वाला हर परिवार देश के किसी भी कोने में पलायन करके जाये, उसके साथ गेहूं-आटा की बोरी जरूर होती है। कारण साफ है कि वे दिल्ली में पहुंचकर भी कब रोजगार पा सकेंगे, इसका कोई भरोसा नहीं होता है। तब तक महिलायें, बच्चे क्या खायेंगे इसके लिये 15 दिन का अनाज साथ रखना सबसे जरूरी है। परन्तु सबके साथ खाना ले जाने की स्थिति हो यह भी जरूरी नहीं है। गुरवा अहिरवार के दोनों बेटे और बहू (लखन, पप्पू और सील्ता) जब जुलाई में दिल्ली जाने की तैयारी कर रहे थे तो उनकी रसद में खाने का सामान नहीं था। इस परिवार के पास इतना पैसा भी नहीं था कि वह तीन लोगों के लिये पचास किलो गेहूं की जुगाड़ कर पाता। अंततः दो दिन की रोटी और नमक पोटली में बांध कर जिन्दगी की तलाश में गुरवा के युवा बच्चे सैनिक बन कर जिंदगी की लड़ाई लड़ने गांव से निकल गये। उनके पास दिल्ली तक की यात्रा करने के लिये अरे हां, रोजगार गारण्टी योजना भी तो है जिसे भारत की सरकारों की झण्डादारी योजना कहा जाता है। दुनिया की सबसे बड़ी रोजगार गारण्टी योजना है यह, और भारत में गांव के हर परिवार को रोजगार की कानूनी गारण्टी देता है यह कानून। पर गुरवा अहिरवार के दलित परिवार ने सरकार की इस योजना की मदद क्यों नहीं ली। ली थी, सरकार की बात पर विष्वास करके मदद लेने की कोशिश की थी। छह महीने पहले इस परिवार ने नरेगा में 40 दिन की हाड़-तोड़ मजदूरी की थी पर

अब तक उन्हें अपने श्रम का मेहनताना नहीं मिल पाया है। इतना ही नहीं पिछले 8 महीनों में अकोना गांव में एक भी नया विकास या रोजगार का काम नरेगा के तहत शुरू नहीं हुआ है। गुरवा की बुजुर्ग हमसफर रतिया बाई कहती हैं कि यदि हमें गांव में ही मजदूरी मिलती तो लड़के-बच्चे अनाथों की तरह पलायन करने के लिये मजबूर नहीं होते। दिल्ली में कोई सुख थोड़े मिलता है। वहां भी कुल सौ-डेढ़ सौ रुपये की मजदूरी मिलती है, वह भी महीने में 15 से 17 दिन की। क्या वहां, इससे गुजारा संभव है? हमारे लिये कुछ बचाने के लिये उन्हें वहां खुले आसमान के नीचे सोना पड़ता है, बारिश में भीगना पड़ता है, कई किलोमीटर भारी सामान लेकर एक जगह से लेकर दूसरी जगह तक भटकना पड़ता। और कोई वहां हमारे रिश्तेदार थोड़े रहते हैं; वहां तो जो ठेकेदार दिलवा दे, वही सबसे बड़ा सहारा होता है। रतिया बाई के मुताबिक उन्हें नहीं पता है कि दिल्ली में उनके बच्चे कहां और क्या काम करते हैं? किसी आस-पड़ोस वाले के फोन पर कभी वे बात कर लेते हैं जिससे पता चल जाता है कि बच्चे जिंदा हैं!!

यह पलायन स्वैच्छा का पलायन नहीं है बल्कि बदहाल परिस्थितियों में जीवन बचाने के लिये किया जा रहा अनैच्छिक पलायन है। छतरपुर बस स्टैंड पर बस संचालन की व्यवस्था करने वाले अजय नायक बताते हैं कि 20 अगस्त के बाद से हर रोज 8 से 10 हजार लोग जिले से पलायन करके दिल्ली या दूसरे महानगरों की ओर जा रहे हैं। वे किसी भी परिस्थिति में यहां रूकना नहीं चाहते हैं क्योंकि उन्हें तत्काल काम की जरूरत है ताकि रोटी, इलाज और कर्जे के ब्याज के भुगतान की व्यवस्था की जा सके।

बहरहाल जिले के कलेक्टर ई. रमेश कुमार इस बात से इत्तेफाक नहीं रखते हैं कि बूंदेलखण्ड के इस जिले से मजदूर और किसान बदहाली के कारण पलायन करके जा रहे हैं। उनके मुताबिक "लोग बेहतर अवसरों के लिये पलायन कर रहे हैं। मैं भी तो इसीलिये अपने गृहराज्य आंध्रप्रदेश को छोड़कर मध्यप्रदेश आ गया।" वे अपनी तुलना बूंदेलखण्ड के मजदूर-किसानों से कर रहे हैं जो भुखमरी की कगार पर हैं। वे (यानी कलेक्टर) जिले में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी योजना के सही और उपयोगी क्रियान्वयन के लिये जिम्मेदार हैं किन्तु गंभीर सूखा होने के बावजूद छतरपुर में मजदूरों को काम नहीं दिया जा रहा है, जिन्होंने मजदूरी की है उन्हें 6-6 महीनों से मजदूरी नहीं मिली है और स्थाई परिसम्पत्तियों के निर्माण की बात तो अभी दूर का ख्वाब है। वे कहते हैं कि "नरेगा एक मांग आधारित योजना है, यदि मांग आयेगी तो सरकार जरूर पूरा करेगी।" साफ है कि वे शुद्ध नौकरशाही नजरिये से इस बदहाली को देख रहे हैं जिसमें मंषा को साफ नहीं माना जा सकता है।

अब संयोग देखिये कि विष्वक् बैंक भी यही कहता है कि पलायन कोई बुरी अवस्था नहीं है यह तो विकास की निषानी है। यदि नरेगा से पलायन रूकेगा तो इससे विकास बाधित होगा। ऐसा ही हमारे राज्य की नौकरशाही भी मानती है। वे खुले मन से यह नहीं जानना चाहते हैं कि किसका विकास और किसका पलायन, किसकी मर्जी, किसकी मजबूरी, कैसा विकास और किसकी कीमत पर।

ई-7/226, प्रथम तल, (धनवन्तरी काम्पलेक्स के सामने) अरेरा कालोनी, शाहपुरा, भोपाल, फोन : 0755 4252789
ई मेल : mprighttofood@gmail.com / sachinwrites@gmail.com

बुंदेलखंड के सन्दर्भ में

क्या बहुत सहज है पलायन की प्रक्रिया ?

सचिन कुमार जैन

साल 2009 के मानसून के दौरान बुंदेलखंड के छत्तरपुर और टीकमगढ़ जिलों से ढाई लाख लोग उस मोसम में पलायन करने को मजबूर हुए, जिस मोसम में उन्हें बहुत आसानी से अपने ही गाँव में खेती और मजदूर का काम मिल जाता रहा था। इस साल के सूखे का संकट इतना भारी पड़ा कि इन्हें अपनी जमीन, जानवर, जंगल को छोड़ कर सीमेंट और कांक्रीट के जंगलों में जीवन तलाशने जाना पड़ा।

छत्तरपुर के जिलाधिकारी की मान्यता है कि यहाँ बदहाली नहीं है, और बुंदेलखंड के लोग बेहतर अवसरों के लिए पलायन करते हैं। उनके मुताबिक रोजगार गारंटी में लोग काम ना करके पलायन पर जाना पसंद करते हैं, इसी लिए काम की मांग कम हो रही है, पर एक भी गाँव का व्यक्ति यह कहता नहीं मिलता कि वह अपनी मर्जी से पलायन करके जा रहा है, हर कोई यह कहता है कि यदि गाँव में अवसर मिलते तो हम इस चक्रव्यूह में नहीं पड़ते. पलायन का जीवन का मतलब है असुरक्षा और अपमान. इस पलायन ने उनकी अपनी पहचान भी छीन ली है।

क्या पलायन का निर्णय लेना बहुत आसान होता है? सवाल सीधा सा है, तो जवाब भी सीधा ही है - नहीं !! यह जीवन की उतनी ही पीड़ादायक प्रक्रिया है, जितनी शारीरिक पीड़ा प्रसव के दौरान के क्षणों में किसी औरत को होती होगी! सबसे पहले तो यह स्वीकार कर लेना जरूरी है कि केवल प्राकृतिक आपदायें बुंदेलखण्ड के लोगों को अपने गांव और समाज से पलायन करके दूर जाने के लिए मजबूर नहीं कर रही है। उन्हें सत्ता का शोषणकारी चरित्र सबसे भीषण असुरक्षित माहौल में ढकेल रहा है। और फिर जब विपरीत परिस्थितियों में शंभूदयाल, बूठा या गुरवा अहिरवार के परिवार पलायन के विकल्प को स्वीकार करते हैं तो उन्हें खुद शोषण के जाल में फंसने के लिये पहला कदम उठाना पड़ता है।

गरीबी और भूख का समाधान खोजने के लिये वे पलायन का विकल्प स्वीकार करते हैं परन्तु पलायन पर जाने का निर्णय लेने के बाद उन्हें सबसे पहले अपने जाने (यात्रा) के खर्च के लिये कर्ज का विकल्प भी अपनाना पड़ता है। बुंदेलखण्ड का पलायन करने वाला ऐसा कोई परिवार नहीं है जिसे 2 से 5 हजार रुपये का कर्ज न लेना पड़ा हो और इस कर्ज की ब्याज दर होती है 5 प्रतिशत प्रतिमाह।

फिर शोषण का दूसरा चरण होता है बस अड्डे से उस साधन को खोजना, जो वास्तव में उन्हें गन्तव्य तक पहुंचा सके। छतरपुर बस अड्डे पर बसों की आवाजाही का प्रबंधन करने वाले युसुफ खान बताते हैं कि यहां से (छतरपुर से) जाने वाली ज्यादातर बसों का परमिट केवल ग्वालियर तक होता है किन्तु बस संचालक इन मजबूर परिवारों की मजबूरी से भी लाभ कमाने से नहीं चूकते। इन परिवारों को वे दिल्ली का कहकर बस में बिठा लेते हैं, और पूरा किराया वसूल लेते हैं। फिर ग्वालियर पहुंचकर किसी भी बस में चढ़ जाने को कहते हैं। वे बसों खचाखच भरी होती हैं। पिछले एक महीने से जो बसें जा रही हैं उनकी वास्तविक क्षमता 36 से 44 यात्रियों की होती है पर पलायन के दौरान इन बसों में 110 से 130 यात्री होते हैं।

टीमरपुरा के शंभूदयाल अपने अनुभवों के आधार पर बताते हैं कि जब हम जैसे-तैसे दिल्ली के बस अड्डे या रेलवे स्टेशन पर पहुंचते हैं तो वहां मजदूरों के ठेकेदार हम तक पहुंच जाते हैं। फिर यहां से दिल्ली या किसी भी महानगर में हमारी जिन्दगी उनके हवाले हो जाती है। कोई भी ठेकेदार एक निश्चित समयावधि के लिये मजदूरी दिलाने का वायदा करता है और इस सुविधा के एवज में सुरक्षा निधि के रूप में मजदूरों के पहले सप्ताह की मजदूरी अपने पास रख लेता है इसके बाद भी उन्हें हर रोज या हर सप्ताह अपनी पूरी मजदूरी नहीं मिलती है। दो मजदूरों पर हर सप्ताह खर्च के लिए 500 रुपये तय हैं। बाकी राशि का का भुगतान काम पूरा होने के बाद करने का वायदा रहता है। इसका मतलब यह है कि वे किसी भी परिस्थिति में बीच में काम छोड़कर जा नहीं सकते हैं।

पलायन के दौरान ठिये-ठिकाने की स्थिति तीसरी बड़ी चुनौती खड़ी करती है। इन पलायनार्थियों को बड़े शहरों में कभी भी एक सुरक्षित आवास की सुविधा नहीं मिलती है। दिल्ली, गुडगांव, अहमदाबाद, गाजियाबाद पहुंचकर ये लकड़ी के टुकड़ों को जोड़कर उन पर प्लास्टिक की बरसाती बिछाकर एक छत बनाते हैं और उसी से दायें-बायें ढक लेते हैं। इसी 30 वर्ग फुट के नाम-मात्र के आवास में ये अपने पलायन की अवधि बिताते हैं।

महानगरों की तरफ होने वाले पलायन में जाने वाले लोग निर्माण मजदूरी का काम करते हैं जहां उन्हें 80 से 150 रुपये का मेहनताना मिलता है। इस राशि में से वे ज्यादा से ज्यादा बचा सकें, इसके लिये वे ईंधन की लकड़ी, गेहूं-आटा, हर तरह के कपड़े, बर्तन, बच्चों के खिलौने जैसा जरूरत का हर सामान अपने गांव से लेकर चलते हैं। ऐसा नहीं है कि दिल्ली जैसे शहर में रहकर उन्हें एक ही जगह पर रोजगार करने के मौके मिल जाते हैं। उन्हें कुछ-कुछ दिन के लिये अलग-अलग जगह काम मिलता है और हर उस स्थान के आस-पास पहुंचकर वे अपना नया घर बनाते हैं - पलायनवास के घर। हर बार उन्हें अपनी गृहस्थी एक जगह से दूसरी जगह ले जाना होती है। पैसा बचाया जा सके इसलिए वे 20-20 किलोमीटर तक प्लास्टिक की बोरियों और

बंडलों को लादकर पैदल चलकर अपने नये अवसरों तक पहुंचते हैं। इस दौरान बच्चों की सुरक्षा और स्वास्थ्य के बारे में सोचने के लिये न तो वहां कोई विकल्प होता है और न ही अवसर। जैसे-तैसे व्यवस्था करके वे अपने 9 घंटे का काम पूरा करते हैं और महानगरों की जिन्दगी को अपने नजरिये से देखने के कोशिश करते हैं। वे इन शहरों के विकास और चमकदार बनाने के लिये पसीना बहाते हैं, यह जानते हुये कि इस विकास में उनके लिये कोई स्थान नहीं है।

इस दौरान यह भी स्पष्ट नज़र आता है कि पिछले १० सालों में पलायन के कारण और चेहरे में खूब बदलाव आये हैं। अकोना गांव के गुरवा अहिरवार और ढिमरपुरा के शंभुदयाल के जीवन की कहानियां मजबूरन किये जा रहे पलायन के चेहरे और चरित्र में आ रहे बदलावों के कुछ संकेत देती है। मसलन पहला बदलाव तो यही है कि 7-8 साल पहले बुंदेलखण्ड के मजदूर श्रमिक और छोटे-सीमांत मोटे तौर पर ज्यादा से ज्यादा दो से तीन माह के लिये पलायन करते थे, इसमें से ज्यादातर समय चैत (रबी के मौसम में) के दौरान होता था परन्तु पिछले दो सालों में दो तरह के नये विश्लेषण सामने आते हैं। पहला तो यह है कि अब पलायन की यह अवधि 8 से 10 महीनों के स्तर तक पहुंच गई है।

दूसरा यह कि जो युवा वर्ग है वह गांव की परिस्थिति को विपत्ति के रूप में देखने लगा है इसलिये वह महानगर में रोजगार के विकल्प खोजने की कोशिश कर रहा है। टीकमगढ़ और छतरपुर के ज्यादातर गांवों में आपको 4 से 6 ऐसे उदाहरण जरूर मिल जायेंगे, जिनमें परिवार पिछले दो सालों से अब गांव केवल घूमने के लिए आते हैं।

तीसरा बदलाव यह है कि पलायन किस क्षेत्र में हो रहा है - निर्माण मजदूरी या कृषि मजदूरी के लिये। पारम्परिक रूप से मजदूर आस-पास के इलाकों में खेती के मौसम के दौरान कृषि मजदूरी के लिये पलायन करते रहे हैं। इतिहास में ऐसे प्रमाण नहीं मिलते है कि कभी भी पारम्परिक व्यवस्था में मजदूरों ने आजीविका की तलाश में महानगरों की ओर पलायन किया है। मौजूदा हालातों में पलायन की जो स्थिति है उसे बदहाली के कारण होने वाले पलायन के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिये। ऐसा लगता है कि मानों बुंदेलखण्ड जैसे इलाकों में विपदा की स्थितियाँ सरकार की तरफ से पैदा की जा रही हैं ताकि विकास के नाम पर हो रहे बेतहाशा निर्माण कार्यों के लिये सस्ता श्रम पैदा किया जा सके।

पलायन का जिस तरह का चित्र अब सामने आ रहा है उससे स्पष्ट है कि गांव के लोग खेती के लिये नहीं बल्कि निर्माण के क्षेत्र में मजदूरी के अवसर तलाश रहे हैं। बहरहाल अब सच तो यह भी है कि मौजूदा ताने-बाने में उन किसानों के हालात भी बदहाल हैं जो पहले कभी

इन मजदूरों को रोजगार दिया करते थे। खेती पर छाया संकट किसानों और मजदूरों को एक साथ लील रहा है।

ई-7/226, प्रथम तल, (धनवन्तरी काम्पलेक्स के सामने) अरेरा कालोनी, शाहपुरा, भोपाल, फोन : 0755 4252789
ई मेल : mprighttofood@gmil.com / sachinwrites@gmail.com

बुंदेलखंड के सन्दर्भ में

स्वैच्छा का पलायन नहीं है यह!

सचिन कुमार जैन

मध्य प्रदेश के बुंदेलखंड इलाके में पलायन अब एक नियमित मजबूरी बनती जा रही है। विकास की दौड़ में नीतियों ने टंगडी मार कर मजदूरों के साथ साथ छोटे और मझोले किसानों के सामने भी गंभीर असुरक्षा पैदा कर दी है। हर गाँव में 40 से 50 फीसदी परिवार पूरे-के-पूरे ताम झाम लेकर निकल पड़ते हैं पलायन पर। यह पलायन यहाँ की बदहाल स्थितियों के कारण हो रहा है, फिर भी छतरपुर जिले के अफसरान मानते हैं कि बुंदेलखंड के ये लोग 2 - 3 माह के बच्चों को लेकर अपनी मर्जी से जिंदगी के मजे लूटने के लिए दिल्ली जैसे बड़े महानगर जा रहे हैं। प्रशासन यह नहीं देख पाता है कि उन्होंने पलायन की यात्रा के लिए भी कर्जा लिया है, वे अपना गेहूँ और आटा, जलाने की लकड़ी भी साथ ले जाते हैं। यह पलायन परिवार, गांव, संस्कृति और अपने परिवेश से दूर कर देता है। दोनों बुजुर्गों की आंखों में आंसू आ जाते हैं यह कहते हुये कि इस बार तो ये सब दशहरे-दीवाली पर भी घर न आ पायेंगे? आजीविका की असुरक्षा, सूखे और सरकारी तंत्र की नाकामी ने पलायन की व्यवस्था में बड़ा बदलाव ला दिया है। गुरवा के परिवार के सदस्य पिछले 7-8 सालों से पलायन करने लगे हैं। पहले साल ये केवल सवा महीने के लिये गये थे फिर वर्ष 2005 में 3 महीने के लिये दिल्ली-गुडगांव गये। पिछले साल तक ये जोड़-घटाकर यह तय करते थे कि कब शहर जाना है, पर इस साल लखन-पप्पू जुलाई में ही चले गये और उनकी वापसी होगी अगले साल अप्रैल-मई में। मतलब उनका पलायन अब स्थाई रूप लेने वाला है।

यह पलायन स्वैच्छा का पलायन नहीं है बल्कि बदहाल परिस्थितियों में जीवन बचाने के लिये किया जा रहा अनैच्छिक पलायन है। छतरपुर बस स्टैण्ड पर बस संचालन की व्यवस्था करने वाले अजय नायक बताते हैं कि 20 अगस्त के बाद से हर रोज 8 से 10 हजार लोग जिले से पलायन करके दिल्ली या दूसरे महानगरों की ओर जा रहे हैं। वे किसी भी परिस्थिति में यहां रुकना नहीं चाहते हैं क्योंकि उन्हें तत्काल काम की जरूरत है ताकि रोटी, इलाज और कर्जे के ब्याज के भुगतान की व्यवस्था की जा सके। बुन्देलखण्ड के सूखे ने यहां के गांवों का न केवल आर्थिक तंत्र बिगाड़ दिया है बल्कि सामाजिक ढांचे को भी तहस-नहस करने की शुरुआत कर दी है। आर्थिक असुरक्षा के कारण "श्रम करने में सक्षम" लोग गांव से चले जाते हैं और "असक्षमों" के नाम

पर बुजुर्गों को छोड़ जाते हैं, भीगी आंखों में बच्चों की वापसी के इंतजार का सपना लिये हूँ।

इस साल फिर मौसम ने छतरपुर के अकोना गाँव के गुरवा के घावों को उधेड़ दिया। पांच हजार रुपये का कर्ज लेकर उसने अपनी छोटी सी जोत में तिली और उड़द बोई थी। छतरपुर के राजनगर ब्लॉक में जून के आखिरी सप्ताह में थोड़ा पानी गिरा था फिर थोड़ी बूदा-बांदी जुलाई में हुई। इसके बाद जब आसमान में पानी के बादल छाये तब तक अगस्त का आखिरी सप्ताह आ चुका था। इस दौरान गुरवा और रतिया ने मौसम के रूख को समझ लिया और यह उम्मीद छोड़ दी कि अब खेत उन्हें कुछ वापस देगा। इस नाउम्मीदी में उन्होंने बुआई के बाद घास-चारा-खरपतवार निकालने के लिये निंदाई भी नहीं की और कीटनाशक भी नहीं छिड़का। आखिर इसके लिये भी तो निवेश करना पड़ता। यह जोखिम उठाने की स्थिति में वे नहीं थे। जब अगस्त के आखिरी सप्ताह में बारिश हुई तब तक तिली-उड़द की पत्तियों में इल्लियां छेद कर चुकी थी और घास-खरपतवार फसल से ज्यादा ऊंची हो चुकी थी। यह बची-खुची एक छोटी सी उम्मीद के टूटने का वक्त है। सवा एकड़ की बंजर जमीन के इस मालिक के ऊपर 55 हजार रुपये का कर्ज है। यह दलित परिवार बोलता है कि "यह कर्जा छाती पर कई मन के वजन की तरह आसन जमाकर बैठ गया है। एक-दो नहीं 5 गांवों के 11 लोगों से कर्ज लिया है हमसे जो अब कभी नहीं चुक पायेगा और हमें कर्जदार की मौत मरना होगा। सरकार ने जाँब कार्ड दिये थे अब वे पूरी तरह से खाली पड़े हुये हैं क्योंकि अकोना पंचायत के सरपंच और सचिव ने 18 लाख रुपये का गबन कर लिया है। छह माह से लोग संघर्ष कर रहे हैं पर सरकार है कि सुनने को तैयार नहीं।"

जटाशंकर के काशी अपने पांच सदस्यों के परिवार, जिसमें छह महीने की छोटी सी कुसुम भी शामिल हैं, के साथ 2 सितम्बर 2009 को मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले के बस स्टैण्ड पर दिल्ली जाने वाली बस का इंतजार कर रहे हैं। वे स्वेच्छा से दिल्ली नहीं जा रहे थे बल्कि बदहाल परिस्थितियों ने उन्हें अपने गांव से रोजगार की तलाश में महानगरों की ओर पलायन करने के लिये मजबूर कर दिया है। वे जानते हैं यह भी तय नहीं है कि जिस रोजगार की तलाश में वे जा रहे हैं वह भी वास्तव में हासिल होगा भी या नहीं।

बुंदेलखण्ड के गांव में ज्यादातर बूढ़े ही दिखाई देने लगे हैं क्योंकि जवान लोग तो जिन्दगी बचाने की तलाश में शहरों के चक्रव्यूह में जा चुके हैं। गुरवा के घर के पास ही 65 साल की सुनिया अहिरवार भी अपनी झोंपड़ी में अकेली रह गई है। उनके दोनों लड़के और बहुर्ये भी रोजगार की तलाश में मई में दिल्ली चले गये थे। उनके साथ तीन-तीन महीने के दो बच्चे

भी हैं जो संकटों, गरीबी और शोषण के बीच जिन्दगी के अर्थ समझेंगे। सुनिया का परिवार भूमिहीन है। उन्हें भी सरकार से रोजगार गारण्टी योजना का जॉब कार्ड मिला है परन्तु तीन साल बाद भी वह पूरी तरह से खाली पड़ा हुआ है। उनके लड़कों दयाली और बल्ली ने 26 दिन इस योजना में काम किया था पर सात महीने बाद भी उनका मेहनताना उन तक नहीं पहुंच पाया। सुनिया की आंखे भी यह बताते हुये भर आती हैं कि *हम पर 65 हजार रुपये का कर्ज है* और ब्याज दर उतनी ही पड़ती है यानि 75 प्रतिशत सालाना।

अकोना गाँव के ही हरदीना अहिरवार को अपनी पोती जुनका की बहुत याद आती है। अब वह 6 महीने की हो चुकी होगी। जब उनके तीनों बेटे और हरदीना की पत्नी रोजगार की तलाश में दिल्ली गये थे तब वह 2 महीने की थी। यूं तो उनके परिवार में 7 सदस्य हैं पर चार महीने से हरदीना अकेले रहते हैं। वह मोची का काम गांव में ही करते हैं। अब 67 साल की उम्र में कुछ ज्यादा कर भी तो नहीं पाते। भूमिहीन हैं, आजीविका का कोई साधन नहीं है, फिर भी सरकार ने उन्हें गरीब नहीं माना। हम उनके साथ बैठे और जिन्दगी का हिसाब लगाया तो पता चला कि उनका पूरा परिवार साल भर में हर रोज एक सदस्य पर साढ़े सात रुपये खर्च करने लायक कमा पाता है पर उन्हें सस्ते राशन के लिये पात्र नहीं माना गया। रोटी, दवाई, खेती, पलायन का खर्च सब कुछ उन्हें कर्जदार बना रहा है।

ई-7/226, प्रथम तल, (धनवन्तरी काम्पलेक्स के सामने) अरेरा कालोनी, शाहपुरा, भोपाल, फोन : 0755 4252789

ई मेल : mprighttofood@gmail.com / sachinwrites@gmail.com

बुंदेलखंड के सन्दर्भ में

बुंदेलखंड में नरेगा एक साजिश है!

सचिन कुमार जैन

अकोना में सत्ता का बेहद जनविरोधी पर सच्चा चेहरा नजर आता है। नरेगा के तहत यहां 13 कपिलधारा के कुयें आवंटित किये गये। कानून कहता है कि इस योजना के तहत गांव के लोगों पर कोई आर्थिक बोझ नहीं आना चाहिये परन्तु अपने खेतों में कुओं की स्थापना के लिये 10 परिवारों ने 43 हजार रुपये की रिष्वत पंचायत सचिव को दी। इतना ही नहीं पंचायत ने कुएं खुदवाना तो शुरू कर दिये पर उनमें श्रम करने वाले मजदूरों को जब 7 महीने तक मेहनताना नहीं मिला तो मजदूरों ने उन गांव वालों पर दबाव बनाना शुरू कर दिया जिनके खेत कपिलधारा कुओं के लिये चुने गये थे। इस दबाव के चलते इन हितग्राहियों को खुद निजी खाते से मजदूरों को मेहनताना देना पड़ा। लल्लू अहिरवार के पास पांच एकड़ जमीन थी पर जब कपिलधारा का कुंआ बना तो उन्होंने मजदूरों को मेहनताना देने के लिये 45 हजार रुपये का कर्ज लिया। जब कर्ज बढ़ने लगा और नरेगा से राषि का भुगतान नहीं हुआ तो उन्होंने 50 हजार रुपये में अपनी एक एकड़ जमीन बेंचकर कर्ज चुकाया। कुआं आज भी अधूरा पड़ा हुआ है सो अलग।

रोजगार गारण्टी ने उन्हें भी पीड़ा दी है। बूठा मझोरा गाँव के उन 10 परिवारों में से एक मात्र दलित हैं, जिन्हें कपिलधारा के कुयें मिले परन्तु साल भर गुजर जाने के बाद उनके खेत में गड़ढा खोदकर छोड़ दिया गया। इसके लिये आवंटित 1.35 लाख रुपये में से महज 40 हजार रुपये खर्च किये गये और बाकी का पता नहीं। हम तो मजदूरी मांगते-मांगते थक गये; रोजगार नहीं मिलता और यदि कुछ दिन मिल जाता है तो कई महीनों तक मेहनताना नहीं मिलता।

इसी तरह जब परमा प्रजापति ने कपिलधारा के कुयें के लिये आवेदन किया तो कुंआ दिलाने के लिये 10 हजार रुपये की रिष्वत की पहली किष्त अग्रिम के तौर पर मांगी गई। जिसे देने के लिए परमा की पत्नी मुन्नी बाई ने अपने परिवार की पूरी चांदी और बर्तन बेंच दिये; परिणाम - संकट और गहरा गया। रकम तो गई ही, कुआं भी विवाद में फंस गया। इस गांव के 110 किसानों की खेती, जिसमें तिल, उड़द और सोयाबीन बोई गई थी वह सूखे के कारण घांस, खरपतवार ओर इल्लियों की चादर से पट गई है। वहां के 70 हजार परिवार रोजगार

की तलाश में दिल्ली और गुडगांव जा चुके हैं। उनमें से हर एक को दो से तीन हजार रुपये का कर्ज लेना पड़ा; यदि उन्हें नरेगा के तहत मजदूरी मिल पाती तो वे इस कर्ज के चक्र से एक हद तक बचे रह जाते। सूखे के संकट से जूझ रहे इस गांव के 187 परिवारों ने नरेगा में काम किया था पर इनमें से 113 परिवारों को बिल्कुल मजदूरी नहीं मिली जबकि 68 परिवारों को थोड़ी-बहुत राशि दे दी गई। 6 परिवारों के पास चूंकि जॉब कार्ड ही नहीं है तो उनका श्रम सरकार के रिकार्ड में शामिल ही नहीं हो पाया। यहां किसान से मजदूर और मजदूर से वंचित समुदाय और वंचित समुदाय से पलायन के बाद अस्तित्वहीन हो रहे समाज की यात्रा को भौतिक रूप से देखा जा सकता है।

बुंदेलखण्ड के टीकमगढ़ जिले की ढीमरपुरा पंचायत एक जीवित इतिहास के साथ जिंदा है। गढ़कुठार के ऐतिहासिक किले के करीब ढीमरपुरा पंचायत के लोगों का पुष्पैनी आजीविका का साधन मछली पकड़ने का रहा है। विडम्बना यह है कि यहां 127 हेक्टेयर में फैले विषाल सिंदूरसागर तालाब पर सूखे की गहरी मार पड़ी है। यह तालाब 100 से ज्यादा परिवारों की आजीविका का केन्द्रीय साधन रहा है। यहां पलने वाली रोहू, कतला, बावस और झींगा मछली हावड़ा-कलकत्ता के बाजारों में अपने खास स्वाद के लिये विख्यात रही पर 170 परिवारों वाले इस गांव के 48 घरों पर 3 सितम्बर यानी बारिश के मौसम में ताले लटक रहे हैं और 67 परिवारों के दो-दो या तीन-तीन सदस्य पलायन करके रोजगार की तलाश में दिल्ली, चण्डीगढ़ या गुडगांव गाये हुये हैं।

शंभूदयाल ढीमर इस सच को और खोलते हैं। उनके परिवार के बीसों सदस्य पिछले साल रोजगार के लिये दिल्ली गये थे, दो महीने पहले बुजुर्ग शंभूदयाल और उनकी पत्नी वापस गांव आ गये। वे कहते हैं पहले तो हम दो-तीन महीने के लिये काम करने बाहर जाते थे किन्तु अब स्थाई पलायन की स्थिति बन रही है। यह तो तय है कि शंभूदयाल के दोनों लड़के रामेश्वर और पूरणलाल अब शायद ही ढीमरपुरा लौटेंगे। इस गांव से 12 परिवार पलायन पर जाकर पिछले दो साल से नहीं लौटे हैं। ऐसा लगता है कि यह सरकार की शहरीकरण की नीति का एक अहम् हिस्सा है कि गांवों में सामान्य और संकटकालीन परिस्थितियों में स्थानीय विकल्पों (खासतौर पर आजीविका के संदर्भ में) को संरक्षण प्रदान मत करो; लोग अपने आप अपने जल, जंगल और जमीन को छोड़कर शहरीकरण के जाल में आ फंसेंगे। ढीमरपुरा के 150 परिवारों के जॉब कार्ड पिछले 2 सालों से सरपंच के नियंत्रण में है। कानूनी अधिकारों पर सत्ता का सामंतवाद इतना हावी हो चुका है कि मध्यप्रदेश राष्ट्रीय

ग्रामीण रोजगार गारण्टी परिषद के दखल के बावजूद भी ढिमरपुरा के लोगों को उनके जॉब कार्ड वापस नहीं मिल पाये।

इन परिस्थितिओं में रोजगार गारंटी योजना अपने वजूद और उपयोगिता को रचनात्मक ढंग से साबित कर सकती थी, पर ऐसा नहीं हो पाया। कारण साफ़ है, सरकार समाज के अपने अधीन बना चुकी है, पंचायत और ग्राम सभा भी उसी के नियंत्रण में है। संसाधनों पर तो वह कानूनी मालिकाना होने का दावा करती है। ऐसे में समाज यदि सूखे या अकाल के संकट का इलाज अपने ज्ञान से खोजना चाहे तो उसे इसकी अनुमति सरकार से लेना होगी, जो मिलती नहीं है। रोजगार गारंटी में कानून ग्रामसभा के निर्णय लेने के अधिकार देता है, पर ग्राम सभा अब तो सरकार की ही बंधुआ है। गाँव के लोग ऐसा कुछ तय नहीं कर सकते हैं, जो उन्हें सही लगता है। ग्राम सभा को वही निर्णय लेना होगा, जो सरकार की नीति बनाने वालों को सही लगता है। इसी विरोधाभास का संकट बुंदेलखंड भी भोग रहा है।

पलायन को यदि हम एक परम्परा और सामाजिक सिध्दान्त का हिस्सा मानने ही लगे हैं तो हमें बुंदेलखण्ड के बक्सवाहा विकासखण्ड के मझौरा गांव को जरूर घूमना चाहिये। अच्छे खासे सघन वन क्षेत्र के बीच बसा हुआ यह गांव वंचितपन और हृद दर्जे की बदहाली की नई कहानी गढ़ रहा है।

ई-7/226, प्रथम तल, (धनवन्तरी काम्पलेक्स के सामने) अरेरा कालोनी, शाहपुरा, भोपाल, फोन : 0755 4252789
ई मेल : mprighttofood@gmail.com / sachinwrites@gmail.com

बुंदेलखंड के सन्दर्भ में

संकट का दायरा बढ़ रहा है!

सचिन कुमार जैन

इस साल हम सबने मौसम का प्रतिकूल चेहरा देखा है. आमतौर पर बुंदेलखंड में सूखा पड़ता था, तो पूरा सूखा पड़ता था। यदि बाढ़ आती थी तो पूरी बाढ़ आती थी. साल २००९ के मानसून ने पहले के ढाई महीनों में सूखे का प्रकोप दिखाया, तो फिर २५ अगस्त के बाद बाढ़ दिखा दी। अब संकट यह है कि लोग क्या मानें, वे बाढ़ से पीड़ित हैं या, सूखे से!! हमारी प्रकृति विरोधी नीतियों का पर्यावरण के चक्र पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इसके साफ सबूत बुंदेलखंड में दिख रहे हैं।

इस साल यानी वर्ष 2009 के मानसून ने सितम्बर में धरती को भिगोना शुरू किया। तब तक खरीफ की फसल लगभग पूरी नष्ट हो चुकी थी। बुंदेलखण्ड के बाहर के लोग यह मानते हैं कि इस बारिश से कम से कम रबी में तो राहत मिली जायेगी। ऐसे में यह बताना जरूरी है कि मध्यप्रदेश के बुंदेलखण्ड अंचल में काली मिट्टी नहीं है जो बारिश में गीली होकर लम्बे अरसे तक नम बनी रहे। यहां बालू, रेतीली और लाल मिट्टी है जो पानी को निष्चित स्तर तक ही सोख पाती है और बहुत जल्दी सूख जाती है। इसमें बहुत समय तक नमी नहीं बनी रह पाती है। मतलब साफ है कि बुंदेलखण्ड में सूखे का असर खरीफ और रबी दोनों की फसलों पर पड़ता है। इस बार संकट और दर्द की गहराई समाज में गहरे तक जायेगी।

मझौरा में लगभग 172 परिवार हैं जिनमें से 151 परिवार खेती से अपनी जरूरतों के बड़े हिस्से को पूरा करते हैं। मझौरा के बूठा अहिरवार के पास दो एकड़ का खेत है और उससे 3 सौ मीटर दूर ही एक तलैया है पर पिछले 8-9 सालों में इस तलैया ने दम तोड़ दिया। बूठा इस दो एकड़ की जमीन में बहु-फसली पध्दति से खेती करते रहे जिनमें वे उड़द, सोयाबीन और तिली बोई गई। वे मानते हैं कि एकल फसल में बर्बादी की संभावना ज्यादा रही। पहले वे खेत के इस टुकड़े में 5

क्विंटल उड़द, 15 क्विंटल सोयाबीन और 40 किलो तिली की पैदावार लेते रहे। अपने आप में इससे उनके परिवार की 9 महीने की जरूरतें पूरी होती रही हैं, परन्तु इस साल न तो एक दाना उड़द का मिला, न सोयाबीन का और न ही तिल

का। पूरे खेत में समा, धमो, गठुआ और गाडर गूठी उग आई है। इसमें चारा घास भी है परन्तु वह चारा घास खरपतवार के बीच ऐसी फंसी है कि उनके खेत में फैली हरियाली गाय, बैल, भैंसों को भी आकर्षित नहीं कर रही है। बता दें कि जानवर भी खरपतवार नहीं खाता है।

पानी जिस समय पर गिरना शुरू हुआ तब तक खेती के सुधरने, पनपने की संभावनायें बहुत दूर जा चुकी थीं। इस खेत को खेती के लिये तैयार करने और बीज वगैरह की व्यवस्था करने में उन्होंने 10 हजार रुपये खर्च कर दिये थे, इस लागत में से अब उन्हें 10 रुपये भी नहीं मिलेंगे। बूठा के परिवार के दूसरे सदस्य हरिनारायण अहिरवार कहते हैं कि *अब तो इस खेत में आग लगाकर ही सफाई करना होगी। इससे रबी में भी कोई मदद मिलने की उम्मीद नहीं है क्योंकि तब सिंचाई के लिये बिजली चाहिये होती है, जो कि इस गांव के एक भी परिवार को सिंचाई के लिये नहीं मिलती है। मतलब !! मतलब यह कि अब अगले साल की बरसात का इंतजार ही एक मात्र विकल्प है। यदि अगली बार सूखा नहीं पड़ा तब तो ठीक, पर यदि फिर सूखा पड़ गया तो !! उफ , कल्पना करना भी कठिन है। बूठा पर 50 हजार और हरिनारायण पर 60 हजार रुपये का कर्ज है। "अब हमें अपनी जिन्दगी के लिये तो कमाना ही है पर इससे चार गुना ज्यादा कमाना पड़ेगा कर्ज का ब्याज चुकाने के लिये"* दोनों यही बोलते हैं। खेती में उत्पादन की घट-बढ़ तो होती ही रहती है पर पिछले 10 सालों से खेती में घाटा हो रहा है क्योंकि एक तरफ तो लागत बढ़ रही है, जीवन की जरूरतें भी मंहगी होती जा रही है, दूसरी तरफ मौसम के उतार-चढ़ाव ने 10 साल में हमें पूरी तरह से निचोड़ लिया है। पहले यह सोचते थे कि चलो इस बार पैदावार कम हुई तो ठीक है अगली बार सुधार लेंगे; परन्तु अब सवाल यह है कि अगली बारी तक जिन्दा कैसे रहेंगे, या कहें कि सम्मानजनक तरीके से जिंदा कैसे रहेंगे? हर साल हालात बदतर होते जा रहे हैं।

यह सवाल उन्हें चुभता है कि खेत में घांस और खरपतवार कैसे हो गई, इसे तो किसान उखाड़ फेंकता है? बूठा कहते हैं कि *अगर उम्मीद बंधती कि अन्न हो पायेगा तो निंदाई करके उखाड़ देते। जब अन्न की उम्मीद ही नहीं दिखी तो न तो निंदाई पर ऊर्जा खर्च की न ही कीटनाशक पर पैसा; इसीलिये खेतों की यह हालत हो गई।*

पानी के संकट की बानगी तो अकल्पनीय है। मझौरा की महिलाओं को गांव के पास सवा तीन सौ फिट पहाड़ी के नीचे उतरकर एक कुण्ड में पानी लेने जाना पड़ता है। इस कुण्ड में इतना पानी रहता है कि साल भर में 10 माह के छोटे बर्तन या कटोरी से भर-भरकर वे पानी इकट्ठा करते हैं। जब पानी मिल जाता है तो आप बर्तन में हजारों की संख्या में छोटे-

छोटे कीड़े तैरते हुए नंगी आंखों से देख सकते हैं। मझौरा के लोग भी देखते हैं और कीड़े देखकर उस पानी को पीते भी हैं, दूसरा विकल्प जो नहीं है। जुलाई 2009 में इस पानी को पीने से हैजा फैला, सोमवती की हैजे से मौत हुई, 48 लोग अस्पताल तक पहुंचे, अब भी 6 लोग बीमार हैं, फिर भी मझौरा इसी कुण्ड का पानी पीता है; क्यों? क्योंकि यहां नरेगा के तहत केवल एक कुंआ खोदा गया है, जिसमें बारिश में कुछ दिन पानी रहता है। जो पीने लायक नहीं है। तीन साल में यहां 40 लाख रुपये खर्च होना बताया जाता है परन्तु पीने के पानी का संकट दूर न हो पाया। गौरीषंकर यादव कहते हैं कि *यह विपदा का समय है, पर विपदा में सरकार कहीं साथ देती नजर नहीं आती। आज गांव का हर छोटा-बड़ा किसान भी रोजगार चाहता है, कई मर्तबा मुंह जुबानी मांगा भी पर काम न मिला। हम तो खुद के साधन चाहते हैं आजीविका के, इसलिये खेती पर खूब जोर मारते हैं।*

बुंदेलखण्ड के अकोना या मझौरा के नाम के जगह कोई दूसरा नाम रख दीजिये, सूखे के प्रकोप का चेहरा न बदलेगा। मझौरा के बिंद्रावन ने अपनी 4 एकड़ जमीन के लिये 3500 रुपये के बीज, 2400 रुपये के कीटनाशक और 3500 रुपये के उर्वरक उधारी में लिये थे। मझौरा के इस किसान के लिये एक रुपये का उधार लेने का मतलब है 2 रुपये चुकाना। इन तीन महीनों में न तो खेत उगे, न दूसरे विकल्प से आय हुई। किसानों को संकट दोहरी मार मारता है। केवल बारिश की मात्रा से सूखे का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। बुंदेलखण्ड अंचल में औसत बारिश 1145.7 मिलीमीटर मानी जाती है। इस औसत बारिश में यदि 40 फीसदी की कमी रह जाये तभी राहत की जरूरत को सरकारी स्तर पर महसूस किया जाता है। मौजूदा सिध्दान्तों में यह महत्वपूर्ण नहीं माना जाता है कि मानसून की बारिश व्यवस्थित तरीके से हुई या नहीं! क्योंकि पर्यावरण और खेती के लिये एक निश्चित समयान्तराल पर निश्चित मात्रा में बारिश होना जरूरी होती है। इस साल बुंदेलखण्ड के छतरपुर जिले में 31 अगस्त 2009 तक 474.1 मिली मीटर बारिश हुई जबकि जरूरत के मान से 925 मिलीमीटर बारिश हो जाना चाहिये थी। 1 सितम्बर 2009 के बाद से यहां लगभग 400 मिलीमीटर बारिश हो चुकी है पर किसान के लिए वह बहुत उपयोगी नहीं है। छतरपुर में जून 2009 में 4 दिन पानी गिरा जबकि जरूरत थी 8 दिन, जुलाई में 15 दिन के बजाये एक भी दिन पानी नहीं गिरा और अगस्त के आखिरी 3 दिनों में पानी गिरा जबकि 15 दिन की अपेक्षा थी। अगर पानी की मात्रा को आधार बनाया गया तो किसान-मजदूर फिर संकट में होंगे ।

यहां आपको हरियाली की चादर के नीचे छिपे हुये सूखे को खोजने के लिये थोड़ी जद्दोजहद करना होगी। हमने सूखे की विभीषिका को चित्रों और चलचित्रों के माध्यम से दिखाने के तरीके अपनाये हैं। जिनमें फटी और दरार पड़ी धरती का चित्र सूखे का पर्यायवाची बन गया। मरे पड़े जानवरों का ढेर, दरके हुये खेत पर उकड़ू बैठकर आसमान की ओर ताकते हुये किसान की तलाश प्रस्तुतियों के लिये की जाती है। कैमरे के लेंस ऐसे ही चित्र खोजते हैं। पर सूखा और सूखे का संकट केवल ऐसा ही नहीं होता है।

पशुधन का संकट - छतरपुर के मझौरा गांव के बिंद्रावन के पास 2001-02 में 6 एकड़ जमीन के साथ-साथ 10 भैंसे और 25 गायें हुआ करती थीं पर 6-7 सालों के संकट ने उनका पूरा सुरक्षा ढांचा तोड़ दिया। अब उनके पास 2 गायें और 3 भैंसे रह गई हैं। खेती का संकट चरम पर पहुंच गया है इसलिये जानवर पालना भी अब एक कठिन चुनौती ही है और चूंकि पशुधन खतम हो रहा है तो इसका मतलब है कि यह खेती संकट से उबर नहीं पायेगी। इस किसान पर अब 60 हजार रुपये का कर्ज है।

बात केवल मझौरा के बिंद्रावन की ही नहीं है। आभार महिला समिति ने राजनगर विकासखण्ड के 10 गांवों में एक पशुधन सर्वेक्षण किया; इसके निष्कर्ष बताते हैं कि वर्ष 2003 में इन 10 गांवों में 95100 पालतू पशु और गौधन था जो जून 2009 में घटकर 45400 यानी आधा रह गया है। पशुधन आर्थिक और पोषण सुरक्षा का बड़ा साधन रहा है किन्तु अब यह लगभग नेस्तनाबूत कर दिया गया है। किसान इन पशुओं को खुला छोड़कर हांक देते हैं। वे गाय और भैंसों को अपने पास नहीं रखना चाहते हैं क्योंकि सूखे ने उनके लिये चारे-पानी का संकट भी खड़ा किया है। ऐसे में यदि चारा-पानी न मिलने से जानवर मर जायेंगे तो उनकी हत्या का दोष किसान पर लगेगा, यह मानते हुये पशुधन को त्यागा जा रहा है।

ई-7/226, प्रथम तल, (धनवन्तरी काम्पलेक्स के सामने) अरेरा कालोनी, शाहपुरा, भोपाल, फोन : 0755 4252789
ई मेल : mpriighttofood@gmail.com / sachinwrites@gmail.com

